

यह समयसार १७२ गाथा। टीका। क्या चलता है? आस्रव अधिकार।

आस्रव—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग, ये पाँच आस्रव हैं। यहाँ ज्ञानी को किसका आस्रव है? और कौन सा आस्रव नहीं है, इसका स्पष्टीकरण करते हैं।

टीका : जो वास्तव में ज्ञानी है,.. ज्ञानी का अर्थ, आत्मा परद्रव्य से तो भिन्न है और शुभ-अशुभभाव से भिन्न है और वर्तमान जो एक समय की पर्याय है, उसकी दृष्टि जब अभेद पर जाती है, जहाँ गुण-गुणी का भेद भी नहीं है। अखण्ड, अभेद चैतन्यवस्तु परमात्मस्वरूप ही आत्मा है। उस पर दृष्टि जाकर आत्मा का ज्ञान और आत्मा का समकित दर्शन होता है, तो उसके साथ आत्मा का अतीन्द्रिय स्वाद अनुभव भी होता है, तब ज्ञानी / समकिति कहा जाता है। ज्ञानी कहो या सम्यग्दृष्टि कहो। उसे जो वास्तव में ज्ञानी है, उसके बुद्धिपूर्वक (इच्छापूर्वक) रागद्वेषमोहरूपी आस्रवभावों का अभाव है,.. उसे पुण्य-पाप के भाव को करने की इच्छा नहीं है, रुचि नहीं है, रुचि नहीं है।

सम्यग्दृष्टि हुआ तो उसकी रुचि तो आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की रुचि है। उस आनन्द की वृद्धि करना, ऐसी रुचि है। धर्म—आत्मज्ञान हुआ, सम्यग्दर्शन (हुआ) तो पुण्य-पाप के भाव और मिथ्यात्वभाव की धर्मी को रुचि नहीं है। आहाहा! धर्मी को सम्यग्दर्शन में रुचि अपना पूर्ण परमात्मस्वरूप, उस ओर की दृष्टि है और उसकी रुचि है। ऐसे वास्तविक ज्ञानी को बुद्धिपूर्वक, रुचिपूर्वक या इच्छापूर्वक राग-द्वेष-मोह के आस्रवभाव

का अभाव है। मिथ्यात्व और मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेष का तो उसे अभाव है। सूक्ष्म बात है, भाई!

इसलिए निरास्रव ही है.. अपना स्वरूप शुद्धचैतन्य पूर्ण आनन्द, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शान्ति, पूर्ण वीतरागस्वरूपी प्रभु की दृष्टि और अनुभव हुआ तो उस सम्बन्धी ज्ञानी को मिथ्यात्व और मिथ्यात्वसम्बन्धी जो राग-द्वेष, (वे) उसे हैं नहीं। इस अपेक्षा से (कहा है कि वह) निरास्रव ही है.. इस अपेक्षा से निरास्रव कहा जाता है। आहाहा!

परन्तु वहाँ इतना विशेष है कि.. ज्ञानी—धर्मी जीव भी, अपना आत्मा शुद्ध चैतन्य परिपूर्ण वीतरागमूर्ति है, उसका अनुभव दृष्टि हुई, वह ज्ञानी जब तक ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट भाव से देखने,.. आत्मा के सर्वोत्कृष्ट भाव को देखने। जब तक सर्वोत्कृष्ट भाव से नहीं देखता। कल परमावगाढ़ श्रद्धा ली थी। १४४ में आता है न? जब तक पूर्ण नहीं देखता तब तक... १४४ में पाठ ऐसा है। जब तक आत्मा पूर्ण स्वरूप नहीं देखता अथवा देखने का अर्थ कि श्रद्धा नहीं करता, ऐसा १४४ में पाठ है।

आहाहा! अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्य द्रव्यस्वभाव, जब तक नहीं देखता अर्थात् श्रद्धा नहीं करता। पाठ तो देखता नहीं, ऐसा है। फिर अर्थकार ने श्रद्धा (किया है)। किसी समय देखने के अर्थ में श्रद्धा भी आती है और श्रद्धा के अर्थ में किसी समय देखना भी आता है।

वहाँ इतना विशेष है कि—वह ज्ञानी.. धर्मी जीव। आत्मज्ञान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी विकार का नाश हुआ, इतना आस्रव तो उसे नहीं आता परन्तु जब तक ज्ञान अर्थात् आत्मा को... आहाहा! ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा में पुण्य और पाप के विकल्प, राग भी है नहीं। ऐसी चीज़ को—आत्मा को सर्वोत्कृष्ट भाव से देखने,.. उत्कृष्ट भाव से देखने अर्थात् जब तक केवलज्ञान नहीं होता, तब तक उत्कृष्ट भाव से नहीं देखता।

सर्वोत्कृष्ट भाव से देखने, जानने और आचरण करने में अशक्त वर्तता हुआ.. धर्मी जीव सम्यग्दर्शन हुआ, तो भी भगवान पूर्ण स्वरूप है, उसे पूर्णरूप से देखना, जानना, आचरण करना, यह अशक्य है। समकित्ती जघन्यदशा में है, निचलीदशा में है, इस कारण

से पूर्णरूप से आत्मा को श्रद्धा करना—देखना, जानना और आचरण करने में अशक्त है। आहाहा! ऐसी बात है।

जघन्य भाव से ही ज्ञान को.. अर्थात् आत्मा को। निचली श्रेणी में चौथे, पाँचवें आदि गुणस्थान में जघन्य भाव से ही ज्ञान को.. अर्थात् आत्मा को। देखता, जानता और आचरण करता है.. आहाहा! तब धर्म की शुरुआत होती है कि आत्मा निर्विकल्प वस्तु है, जिसमें शुभराग का भी अभाव है और जिसमें वर्तमान एक समय की पर्याय है, उसका भी उसमें—वस्तु में अभाव है। ऐसी वस्तु की अनुभवदृष्टि और ज्ञान, आचरण—स्वरूपाचरण आनन्द आया तो उतने प्रकार के मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के आस्रव नहीं हैं। इस अपेक्षा से उसे निरास्रव कहते हैं। इस अपेक्षा से निरास्रव कहते हैं, परन्तु जब तक पूर्ण देखना, जानना, आचरण करना नहीं है, तब तक पूर्ण निरास्रवी नहीं है। आहाहा! है ?

जघन्य भाव से ही ज्ञान को देखता, जानता और आचरण करता है, तब तक उसे भी, जघन्यभाव की अन्यथा अनुपपत्ति.. यदि जघन्यभाव न हो तो आस्रवभाव न हो, तो जघन्यभाव है। जघन्यभाव है तो राग-द्वेष का आस्रव भी है। जघन्यभाव न हो, उत्कृष्ट भाव होवे तो राग-द्वेषभाव ही न हो। अस्थिरता के राग-द्वेष हैं, वे भी न हों। आहाहा!

जघन्यभाव की अन्यथा अनुपपत्ति.. (अर्थात्) आस्रव न हो तो जघन्यभाव की अन्यथा उत्पत्ति, जघन्यभाव की उत्पत्ति ही देखने में न आवे। यदि आस्रव बिल्कुल न हो तो जघन्यभाव की उत्पत्ति न हो, तो उत्कृष्ट भाव की उत्पत्ति हो। आहाहा! जघन्यभाव की अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा (जघन्यभाव अन्य प्रकार से नहीं बनता इसलिए) जिसका अनुमान हो सकता है, ऐसे अबुद्धिपूर्वक कर्म कलंक के विपाक का सद्भाव होने से,.. आहाहा! धर्मी सम्यग्दृष्टि क्षायिक समकिति हो तो भी जघन्यभाव है। चारित्र और ज्ञान की पूर्णता नहीं है और पूर्ण जानना-देखना नहीं है, तब तक आस्रव की स्थिति है। अन्यथा जघन्यभावरूप परिणमन नहीं होता। यदि आस्रव न हो तो जघन्यभाव की परिणति नहीं होती। जब जघन्यभाव की परिणति है, तब तक आस्रवभाव भी है। दूसरा (आस्रव है;) मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का नहीं है। आहाहा!

ऐसे अबुद्धिपूर्वक कर्म कलंक के विपाक का सद्भाव होने से,.. आहाहा! रुचि

नहीं, दृष्टि नहीं परन्तु अपनी कमजोरी के (कारण से) पर्याय में अस्थिरता के राग-द्वेष आते हैं, वह कर्म कलंक विपाक का सद्भाव है। वह भाव विकार है, वही कर्म कलंक है। जड़कर्म नहीं। जो पुण्य और पाप के भाव आते हैं, वह विकारी कर्म है। वह विकारी कर्म है, इतना कलंक है। आहाहा! सम्यग्दर्शन हुआ, क्षायिक समकिति हुआ, तो भी जघन्य परिणति नीचे है, वही बताता है कि उसे भी अभी राग-द्वेष के परिणाम / आस्रव उत्पन्न होते हैं। उतना कर्म कलंक है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! समयसार आस्रव अधिकार है। दोपहर को प्रवचनसार (चलता है)।

पुद्गलकर्म का बन्ध होता है। धर्मी जीव को, सम्यग्दृष्टि को भी निचली भूमिका में है, ऊँची भूमिका में ज्ञान, दर्शन, चारित्र की उत्कृष्टदशा नहीं है, तब तक कर्म कलंक का सद्भाव होने से राग-द्वेषादि के चारित्रदोष के परिणाम उत्पन्न होते हैं। उनसे पुद्गलकर्म का बन्ध होता है। उसे पुद्गलकर्म का बन्ध होता है।

इसलिए तब तक ज्ञान को देखना,.. तब तक अन्दर भगवान आत्मा को देखना, उत्कृष्टरूप से श्रद्धा और जानना-देखना और स्थिर होना... आहाहा! तब तक ज्ञान को देखना, जानना और आचरण करना चाहिए, जब तक ज्ञान का जितना पूर्ण भाव है.. आहाहा! आत्मा पूर्ण स्वरूप वीतरागमूर्ति प्रभु का पूर्ण आचरण वीतरागभाव जब तक न हो, तब तक पूर्ण को देखना। आहाहा! पूर्ण को देखना, पूर्ण को जानना और पूर्ण का आचरण करने का प्रयत्न करना। समझ में आया?

और आचरण में भलीभाँति आ जाये। आहाहा! तब तक ज्ञान को देखना,.. आहाहा! जब तक पूर्ण आत्मा का आचरण, ज्ञान—केवलज्ञानादि न हो, तब तक ज्ञान का जितना पूर्ण भाव है, उतना देखने, जानने और आचरण में भलीभाँति आ जाये। तब से लेकर साक्षात् ज्ञानी होता हुआ.. तब साक्षात् ज्ञानी (हुआ)। पहले निरास्रव को कहा परन्तु चौथे, पाँचवें गुणस्थान में उसकी मर्यादा प्रमाण निरास्रव कहा। परन्तु साक्षात् निरास्रव... आहाहा! आत्मा को पूर्ण जानना, देखना और आचरण करना हो जाए, तब साक्षात् निरास्रव होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : तेरहवें गुणस्थान में साक्षात् होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह इस तेरहवें केवलज्ञान पूर्ण दशा हो गयी समाप्त, समाप्त ! ओहो !

इसलिए जघन्यदशा में मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का आस्रव नहीं है, इस अपेक्षा से निरास्रव कहा, परन्तु जब तक पूर्ण दशा प्रगट न हो, तब तक धर्मी को भी राग-द्वेष के चारित्रमोह के परिणाम कलंक हैं तो उतना पुद्गल का बन्ध भी है। आहाहा ! तो जब तक पूर्ण स्वरूप देखने में, जानने में, आचरण में न आवे, तब तक पूर्ण आस्रवरहित नहीं है। जब पूर्ण हो गया तो पूर्ण आस्रवरहित है। अपेक्षा से बात की है। पहले निरास्रव कहा था और कहते हैं कि पूर्ण होवे, तब निरास्रव होता है। समझ में आया ?

जिसे अभी मिथ्यात्व, राग, दया, दान, भक्ति, व्रत, तप यह पुण्यभाव है। वह धर्म है और धर्म का कारण है, ऐसा जब तक मानता है, तब तक तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा ! क्योंकि राग, वह सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन का कारण तो पूर्ण परमात्मस्वरूप अपना पूर्ण द्रव्यस्वभाव है, वही सम्यग्दर्शन का कारण है। आहाहा ! और वह सम्यग्दर्शन की प्रथम दशा, ऐसा कि अपने यह दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा करते हैं तो यह सम्यग्दर्शन होगा, (ऐसा मानता है), तब तक तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा ! ऐसा मार्ग है। और जब तक पूर्ण ज्ञान, दर्शन, आनन्द का आचरण न हो, तब तक भी उसे कर्म कलंक का सद्भाव है और बन्ध भी है। आहाहा ! है या नहीं ? दोनों अपेक्षाएँ ली हैं।

आहा ! तब से साक्षात् ज्ञानी.. साक्षात् अर्थात् केवलज्ञानी होता हुआ (वह आत्मा) सर्वथा निरास्रव ही होता है। उसे आस्रव बिल्कुल है नहीं। आहाहा !

भावार्थ : ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक (अज्ञानमय) रागद्वेषमोह का अभाव होने से.. धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे आत्मा पूर्णानन्द और शुद्ध चैतन्यघन का अनुभव और दृष्टि और स्वरूप में आचरण थोड़ा हुआ है, चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण भी हुआ है। आहाहा ! उस ज्ञानी के (अज्ञानमय) रागद्वेषमोह का अभाव होने से.. उसे बुद्धिपूर्वक अज्ञानमय राग करनेयोग्य है और राग धर्म का कारण है, ऐसी मिथ्याबुद्धि का तो नाश हुआ है। समझ में आया ? ऐसे (अज्ञानमय) रागद्वेषमोह का अभाव होने से वह (ज्ञानी) निरास्रव ही है.. यहाँ भी 'ही' कहा। निरास्रव ही है.. कहो, ठीक ! इस अपेक्षा से। आहाहा !

भरत चक्रवर्ती समकिती थे, श्रेणिक राजा क्षायिक समकिती थे। भरत भी क्षायिक समकिती, तो समकित है, वहाँ आत्मा का अनुभव होता है और उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का आचरण होने से अतीन्द्रिय आनन्द का व्यक्त अंश में वेदन होता है। आहाहा! इस अपेक्षा से अज्ञानमय राग-द्वेष-मोह तो उसे है ही नहीं। समझ में आया? इस अपेक्षा से तो निरास्रव ही है।

आहाहा! परन्तु जब तक क्षायोपशमिकज्ञान है,.. ज्ञान की दशा क्षायोपशमिक-हीन है, तब तक वह ज्ञानी ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट भाव को देख.. नहीं सकता। अपने स्वरूप को सर्वोत्कृष्ट भाव से तो देख नहीं सकता और न जान सकता है और न आचरण कर सकता है। आहाहा! परन्तु जघन्य भाव से देख.. सकता है। आहाहा! निचली भूमिका में... जघन्यभाव आता है न? हिन्दी, हिन्दी में जघन्य कहते हैं न? निचली भूमिका। आहाहा! चौथे, पाँचवें, छठवें आदि जघन्यभाव है। सच्चा गुणस्थान, हों! चौथे, पाँचवें, छठवें में। जो कोई पुण्य की क्रिया और देह क्रिया में कर सकता हूँ, शरीर की यह क्रिया मैं करता हूँ, मैं पर की दया पाल सकता हूँ और दया पालने का भाव हुआ, वह धर्म है - ऐसा जब तक मानता है, तब तक तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! क्योंकि पर की दया पालने का भाव (राग है)। (दया) पाल नहीं सकता। भाव होता है, वह राग है। परद्रव्य की ओर का लक्ष्य है, राग है। राग है तो वह स्वरूप की हिंसा है। स्वरूप की हिंसा होती है। आहाहा! यहाँ (लोग कहते हैं) दया, वह धर्म है। वह तो आत्मा की दया (धर्म है)। पूर्णानन्द का नाथ, जैसा उसका जीवन है, जैसी चीज़ है, वैसी प्रतीति में ज्ञान और अनुभव में लेना, वह आत्मा की दया है। आहाहा! वह आत्मा की अहिंसा है। पर को न मारना, वह कोई अहिंसा नहीं। पर की दया, वह कहीं परमार्थ अहिंसा नहीं। आहाहा!

जितने अंश में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं, उतने अंश में अबन्ध परिणाम है परन्तु उस ज्ञानी को भी... पुरुषार्थसिद्धियुपाय में कहा, जितने अंश में राग-द्वेष का अंश आता है, उतना आस्रव का कारण है, नये कर्म का कारण है। आहाहा! इससे यह ज्ञात होता है... इस कारण से ऐसा ज्ञात होता है कि उस ज्ञानी के अभी अबुद्धिपूर्वक.. रुचिपूर्वक नहीं (किन्तु) अरुचिपूर्वक। कर्मकलंक का विपाक (चारित्रमोहसम्बन्धी रागद्वेष) विद्यमान है.. आहाहा! आस्रव अधिकार है न! और इससे उसके बन्ध भी

होता है। पहले कहा था कि सम्यग्दृष्टि निरास्रवी-निर्बन्ध है। यह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी की अपेक्षा से कहा था। यहाँ तो दोनों—आस्रव और बन्ध दोनों हैं। आहाहा!

जितने अंश में अपने स्वरूप में निर्मलदृष्टि, ज्ञान और स्थिरता है, उतना तो अबन्ध भाव है और जितने अंश में अन्दर में राग आया, उतने अंश में आस्रव है और उतने अंश में वह बन्ध भी है। आहाहा! अब ऐसी सूक्ष्म बातें।

इसलिए उसे यह उपदेश है.. समकित्ती को! है? इसलिए उसे यह उपदेश है कि—जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो.. आहाहा! समकित्ती को उपदेश है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! प्रभु! जब तक केवलज्ञान न हो, तब तक राग है। राग है तो उतना बन्ध भी है। इसलिए जब तक केवलज्ञान न हो, तब तक भगवान को देखना, जानना और आचरण करना। आहाहा! इस आचरण का अर्थ यहाँ राग करना, वह आचरण नहीं है। स्वरूप आनन्दस्वरूप में आचरण करना, लीन (होना)। भगवान आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु है। उसकी प्रतीति, उसका ज्ञान और उसमें आचरण—रमना। अतीन्द्रिय आनन्द में रमना, वह आचरण कहने में आता है। बाकी व्रत, तप और भक्ति आदि (के भाव होते हैं) वह आचरण नहीं है; वह तो असदाचरण है। वह सत्आचरण नहीं है। आहाहा!

इसलिए उसे यह उपदेश है कि—जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तब तक निरन्तर ज्ञान का (आत्मा का) ही ध्यान करना चाहिए,.. ज्ञान अर्थात् आत्मा। शुभ और अशुभभाव का ध्यान छोड़कर... आहाहा! धर्मी को भी आर्तध्यान-रौद्रध्यान-चौथे-पाँचवें में होता है। छठवें में आर्तध्यान होता है। चौथे-पाँचवें गुणस्थान तक रौद्रध्यान होता है, तो कहते हैं कि जब तक पूर्ण (स्वरूप) देखने में न आवे, तब तक स्वरूप का ध्यान करना, इस राग का ध्यान छोड़ देना। आहाहा!

जब तक पूर्ण दशा प्राप्त न हो, तब तक पुरुषार्थ स्वभावसन्मुख का करना और केवलज्ञान प्राप्त करना, ऐसा कहते हैं। समकित्ती को यह उपदेश देते हैं। समकित्ती को तो सब खबर है। यह १७-१८ गाथा में आया कि आत्मज्ञान हुआ, शुद्ध चैतन्य का अनुभव (हुआ) तो श्रद्धा में ऐसा आया कि यह आत्मा पवित्र पूर्ण है और इसमें जितना मैं लीन होऊँगा, उतना कर्म का नाश होगा। व्रतादि और तपादि की क्रिया से कर्म का नाश होगा,

यह नहीं। बाह्य तप नहीं। निश्चय तप यह (है)। अन्दर आनन्दस्वरूप भगवान् ! 'तपन्ति इति तपः'। जैसे सोने में गेरु लगाने से सोना शोभता है, ओपता है; वैसे भगवान् आत्मा में सम्यग्दर्शन हुआ, तदुपरान्त स्वरूप में लीनता का, आनन्द में रमने का चारित्र और उसमें उग्र-विशेष रमना, इसका नाम तप है। आत्मा के आनन्द में विशेष रमना, वह तप है। वह तप। उसके बिना ये बाहर के तप हैं, वह सब लंघन है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

पहले निरास्रव कहा, पश्चात् और फिर आस्रव कहा और पूर्ण होता है, तब निरास्रव होगा (-ऐसा कहा)। आहाहा! जिसे ख्याल में यह बात नहीं कि क्या चीज़ है और सम्यग्दर्शन कैसे होता है? वह तो व्रत करो, और अपवास करो और प्रतिमा ले लो और भगवान् की भक्ति करो, मन्दिर बनाओ... पर की क्रिया कौन कर सकता है? भाव होता है तो वह शुभराग है, पुण्य है, वह कोई धर्म नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : धर्म माने तो क्या दिक्कत है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म माने तो मिथ्यात्व है। धर्मी को शुभभाव आते हैं परन्तु धर्म नहीं मानते। आहा! सम्यग्दृष्टि को भी भगवान् की भक्ति, पूजा का भाव आता है परन्तु वह उसे हेय मानता है, उसे दुःखरूप मानता है, मेरी कमजोरी से मुझमें वह आता है, मुझे वह आदरणीय नहीं है। आहाहा!

इसलिए उसे यह उपदेश है कि—जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो.. आहाहा! तब तक निरन्तर ज्ञान का ही.. निरन्तर! आत्मा आनन्द अतीन्द्रिय वीतरागमूर्ति का निरन्तर ज्ञान अर्थात् आत्मा का ध्यान करे। आहाहा! भगवान् ज्ञानस्वरूप है, ज्ञायकभाव है; अल्पज्ञपना है नहीं, राग-द्वेष तो उसमें है ही नहीं, ऐसे ज्ञायकभाव का ध्यान करना (कि) जब तक केवलज्ञान न हो, तब तक। आहाहा!

ज्ञान को ही देखना, ज्ञान को ही जानना.. आत्मा को ही जानना और आत्मा का ही आचरण करना.. आहाहा! इसी मार्ग से दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणमन बढ़ता जाता है.. देखो! क्या कहते हैं? शुभ-अशुभभाव से भिन्न भगवान् को देखना, जानना और आचरण करते-करते शुद्धि की वृद्धि होती है। है? तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणमन बढ़ता जाता है.. कोई व्रत और पाँच महाव्रत और प्रतिमा के कारण धर्म

की वृद्धि हो जाती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा भाव आता है, परन्तु वह जानता है कि यह हेय है।

इसी मार्ग से.. आत्मा पूर्णानन्द प्रभु को देखना, जानना और उसका आचरण करना। उससे परिणामन बढ़ता जाता है.. शुद्धता बढ़ती जाती है। आहाहा! और ऐसा करते-करते केवलज्ञान प्रगट होता है। ऐसे करते-करते (कहा) है। व्यवहार करते-करते केवलज्ञान प्रगट होता है, ऐसा नहीं। आहाहा! बहुत कठिन काम है। अन्दर आनन्दस्वरूप प्रभु की प्रतीति, ज्ञान हुआ तो भी अन्दर में पूर्ण आत्मा को देखना, जानना और आचरण करना, तब शुद्धि बढ़ती जाती है। अन्तर में आचरण करने से शुद्धि बढ़ती जाती है। आहाहा!

और ऐसा करते-करते केवलज्ञान प्रगट होता है। आहाहा! जब केवलज्ञान प्रगटता है, तब से आत्मा साक्षात् ज्ञानी है.. धर्मी है। और सर्व प्रकार से निरास्रव है। उसे किसी प्रकार का आस्रव नहीं है। भगवान परमात्मा आत्मा सर्व ज्ञानी हुए, केवलज्ञानी (हुए), वे बिल्कुल निरास्रव हैं। जब केवलज्ञान प्रगटता है, तब से आत्मा साक्षात् ज्ञानी है और सर्व प्रकार से निरास्रव है। आहाहा!

जब तक क्षायोपशमिकज्ञान है.. अपूर्ण ज्ञान है, तब तक अबुद्धिपूर्वक (चारित्रमोह का) राग होने पर भी,.. आहाहा! बुद्धिपूर्वक राग के अभाव की अपेक्षा से ज्ञानी के निरास्रवत्व कहा है.. देखा? आहाहा! स्पष्टीकरण किया है। पहले कहा, उसका स्पष्टीकरण किया। जब तक ज्ञान अल्प है, सम्यक् है, तब तक अबुद्धिपूर्वक (चारित्रमोह का) राग होने पर भी,.. वहाँ चारित्रमोह का राग है। बुद्धिपूर्वक राग के अभाव की अपेक्षा से.. रुचिपूर्वक-दृष्टिपूर्वक राग करने की अपेक्षा से ज्ञानी के निरास्रवत्व कहा.. है। आहाहा! और अबुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने पर तथा केवलज्ञान प्रगट होने पर सर्वथा निरास्रवत्व कहा है। तब सर्वथा निरास्रव है। आहाहा! यह, विवक्षा की विचित्रता है। ऐसा कि, ऐसे क्यों कहा? कि कथन की अपेक्षा अनेक प्रकार से है। सम्यग्दर्शन हुआ तो बन्ध नहीं और आस्रव नहीं, ऐसा भी कहा और सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् भी चारित्र का दोष है तो आस्रव और बन्ध भी है, ऐसा कहा और पूर्ण ज्ञान जब

होता है, तब निरास्रव है। पहले सम्यग्दृष्टि को निरास्रव कहा, पश्चात् केवलज्ञान होता है तो सर्वथा निरास्रव कहा। विवक्षा है, अपेक्षा से कथन है - ऐसा कहते हैं। किस अपेक्षा से है, यह समझना चाहिए। एकान्त नहीं खींचना चाहिए कि सम्यग्दर्शन हुआ, इसलिए बस, निरास्रव ही हो गया। सम्यग्दर्शन हुआ तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी मात्र निरास्रव है। परन्तु अभी चारित्रमोह का दोष है। स्वरूप में रमना, (ऐसा) चारित्र जब तक नहीं है, (तब तक) दोष है। चारित्र का अर्थ यह नहीं कि यह नग्नपना ले लेना और पंच महाव्रत पालना, वह चारित्र नहीं है। आहाहा!

चारित्र तो चरना, रमना, जमना। अतीन्द्रिय आनन्द का अन्दर भोजन करना। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द की भूमि में से अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र स्वाद लेना, इसका नाम चारित्र है। अरे रे! व्याख्या भी बहुत कठिन।

अबुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने पर तथा केवलज्ञान प्रगट होने पर सर्वथा निरास्रवत्व कहा है। यह, विवक्षा की विचित्रता है। क्या कहा? कथन की अपेक्षा की विचित्रता है। स्पष्टीकरण करना पड़ा। आहाहा! किस अपेक्षा से कहा है, वह कथन की विचित्रता है। जिस-जिस प्रकार से जहाँ (कहा हो, उस प्रकार से समझना चाहिए)।

जहाँ जहाँ जो जो योग्य है, वहाँ समझना वही,
वहाँ वहाँ वह वह आचरे आत्मार्थीजन सही।

एकान्त (ले लेवे कि) सम्यग्दर्शन हुआ, इसलिए आस्रवरहित हुआ, ऐसा मान ले वह भी नहीं और सम्यग्दर्शन बिना राग मन्द हो और उसे आस्रव नहीं है, ऐसा मानना वह भी मिथ्यात्व है और सम्यग्दर्शन में पूर्व आचरण जब तक नहीं हो, तब तक आस्रव है और बन्ध भी है। यह विवक्षा की कथन की विचित्रता है। आहाहा!

कलश-११६

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

सन्न्यस्यन्निज-बुद्धि-पूर्व-मनिशं रागं समग्रं स्वयं,
वारम्बार-मबुद्धि-पूर्व-मपि तं जेतुं स्व-शक्तिं स्पृशन् ।
उच्छिन्दन्पर-वृत्ति-मेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-
न्नात्मा नित्य-निरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥११६॥

श्लोकार्थ : [आत्मा यदा ज्ञानी स्यात् तदा] आत्मा जब ज्ञानी होता है तब, [स्वयं] स्वयं [निजबुद्धिपूर्वम् समग्रं रागं] अपने समस्त बुद्धिपूर्वक राग को [अनिशं] निरन्तर [सन्न्यस्यन्] छोड़ता हुआ अर्थात् न करता हुआ, [अबुद्धिपूर्वम्] और जो अबुद्धिपूर्वक राग है [तं अपि] उसे भी [जेतुं] जीतने के लिए [वारम्बारम्] बारम्बार [स्वशक्तिं स्पृशन्] (ज्ञानानुभवनरूप) स्वशक्ति को स्पर्श करता हुआ और (इस प्रकार) [सकलां परवृत्तिम् एव उच्छिन्दन्] समस्त परवृत्ति को-परपरिणति को-उखाड़ता हुआ [ज्ञानस्य पूर्णः भवन्] ज्ञान के पूर्णभावरूप होता हुआ, [हि] वास्तव में [नित्यनिरास्रवः भवति] सदा निरास्रव है।

भावार्थ : ज्ञानी ने समस्त राग को हेय जाना है। वह राग को मिटाने के लिए उद्यम किया करता है; उसके आस्रवभाव की भावना का अभिप्राय नहीं है; इसलिए वह सदा निरास्रव ही कहलाता है।

परवृत्ति (परपरिणति) दो प्रकार की है-अश्रद्धारूप और अस्थिरतारूप। ज्ञानी ने अश्रद्धारूप परवृत्ति को छोड़ दिया है और वह अस्थिरतारूप परवृत्ति को जीतने के लिए निज शक्ति को बारम्बार स्पर्श करता है अर्थात् परिणति को स्वरूप के प्रति बारम्बार उन्मुख किया करता है। इस प्रकार सकल परवृत्ति को उखाड़ करके केवलज्ञान प्रगट करता है।

‘बुद्धिपूर्वक’ और ‘अबुद्धिपूर्वक’ का अर्थ इस प्रकार :- जो रागादिपरिणाम इच्छासहित होते हैं, सो बुद्धिपूर्वक हैं और जो इच्छारहित - परनिमित्त की बलवत्ता से

होते हैं, सो अबुद्धिपूर्वक हैं। ज्ञानी के जो रागादिपरिणाम होते हैं, वे सभी अबुद्धिपूर्वक ही हैं; सविकल्पदशा में होनेवाले रागादि परिणाम ज्ञानी को ज्ञात तो हैं, तथापि वे अबुद्धिपूर्वक हैं, क्योंकि वे बिना ही इच्छा के होते हैं।

(पण्डित राजमल्लजी ने इस कलश की टीका करते हुए 'बुद्धिपूर्वक' और 'अबुद्धिपूर्वक' का अर्थ इस प्रकार किया है:—जो रागादिपरिणाम मन के द्वारा, बाह्य विषयों का आलम्बन लेकर प्रवर्तते हैं, और जो प्रवर्तते हुए जीव को निज को ज्ञात होते हैं तथा दूसरों को भी अनुमान से ज्ञात होते हैं, वे परिणाम बुद्धिपूर्वक हैं; और जो रागादि परिणाम इन्द्रिय—मन के व्यापार के अतिरिक्त मात्र मोहोदय के निमित्त से होते हैं तथा जीव को ज्ञात नहीं होते, वे अबुद्धिपूर्वक हैं। इन अबुद्धिपूर्वक परिणामों को प्रत्यक्ष ज्ञानी जानता है और उनके अविनाभावी चिह्नों से वे अनुमान से भी ज्ञात होते हैं।)॥११६॥

श्लोक - ११६ पर प्रवचन

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:— लो! ११६ ? अमृतचन्द्राचार्यदेव
(का) श्लोक है, कलश है।

सन्यस्यन्निज-बुद्धि-पूर्व-मनिशं रागं समग्रं स्वयं,
वारम्वार-मबुद्धि-पूर्व-मपि तं जेतुं स्व-शक्तिं स्पृशन् ।
उच्छिन्दन्पर-वृत्ति-मेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-
न्नात्मा नित्य-निरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥११६॥

आहाहा! 'आत्मा यदा ज्ञानी स्यात् तदा' आत्मा जब ज्ञानी होता है.. आहाहा! दया, दान, व्रतादि का विकल्प जो है, उससे भिन्न होकर आत्मा की दृष्टि और अनुभव होता है, तब ज्ञानी होता है। कोई शास्त्र का पठन बहुत कर लिया और लाखों लोगों को रंजन कराया, इसलिए ज्ञान है - ऐसा नहीं है। आहाहा! हजारों शास्त्र बनाये, व्याख्यान में लाखों लोग इकट्ठे किये, वह कोई ज्ञानी नहीं है। ज्ञान तो राग से रहित आत्मा चिदानन्द प्रभु का ज्ञान हो, वह ज्ञान कहने में आता है। आहाहा!

तिर्यच है, तिर्यच। ढाई द्वीप के बाहर असंख्य तिर्यच हैं। समकिती हैं, पंचम

गुणस्थानवाले असंख्य (तिर्यच) बाहर पड़े हैं। ढाई द्वीप के बाहर स्वयंभूरमण समुद्र में मच्छ और कच्छ और द्वीप में सिंह और बाघ समकिति हैं, ऐसा शास्त्र में पाठ है। आहाहा! चारित्र नहीं है। अन्दर स्वरूप का आचरण नहीं है परन्तु सम्यग्दर्शन और पंचम गुणस्थान (वर्ती) सिंह और बाघ, नाग, मच्छ और कच्छ – कछुआ... आहाहा! जिन्होंने भगवान आत्मा के पूर्णानन्दस्वरूप जहाँ अन्तर्दृष्टि में अनुभव में लिया, भले शरीर तिर्यच का हो, अरे! नारकी का शरीर हो। सातवें नरक में मिथ्यात्व लेकर जाए और वहाँ समकित को प्राप्त होत है। आहाहा! और निकले तब मिथ्यात्व हो जाता है। सातवाँ नरक! आहाहा! इतनी शीत वेदना की पीड़ा है, जन्म से सोलह रोग... आहाहा! तैंतीस सागर में पानी की बूँद नहीं, आहार का कण नहीं, उस दशा में भी जीव समकित प्राप्त करता है! आहाहा! कोई ऐसा कहे कि हमें कुछ खाने, पीने की, सोने की अनुकूलता हो, लड़के-बड़के व्यापार अनुकूल चले, निवृत्ति हो तो निवृत्ति ठीक पड़े। आहाहा! यह सब कल्पनाएँ हैं। सातवें नरक में इतनी प्रतिकूलता है, तो भी दृष्टि गुल्लाँट खाकर, पलटा करके स्वभावसन्मुख की दृष्टि करके अनुभव करता है। इतनी प्रतिकूलता में समकित होता है। प्रतिकूलता, वह तो ज्ञान का ज्ञेय है। आहाहा!

कोई ज्ञेय प्रतिकूल और अनुकूल है ही नहीं। ज्ञेय तो ज्ञान में जाननेयोग्य ज्ञेय है। उस ज्ञेय में छाप नहीं लगी है कि यह अनुकूल और यह प्रतिकूल है। यह तो अज्ञानी प्रतिकूल-अनुकूल ऐसी कल्पना करता है। आहाहा! अनुकूल चीज़ यह है, वह तो ज्ञेय है। प्रतिकूल वह भी ज्ञेय है। उसे अनुकूल-प्रतिकूल कल्पना करना, वह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

ऐसे सातवें नरक और तिर्यच के भव, स्वयंभूरमण समुद्र (में) एक हजार योजन के मच्छ समकिति हैं। आहाहा! तीन ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि है। आहाहा! यहाँ मनुष्य हो, बड़ा राजा अरबोंपति हो, कुछ भान नहीं होता, भिखारी की तरह पैसा लाओ, यह लाओ, यह लाओ... अन्तर में अनन्त लक्ष्मी पड़ी है, प्रभु! अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, अनन्त स्वच्छता, अनन्त वीतरागता—ऐसी अनन्त शक्ति का भण्डार प्रभु है, उसका तो प्रेम नहीं, उसकी तो रुचि नहीं और धूल में रुचि है। यह पैसा पाँच-पच्चीस लाख, करोड़-दो करोड़ मिले, वहाँ (प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है)। आहाहा!

आहाहा! अन्तर में लक्ष्मी पड़ी है, अन्तर आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द और अनीन्द्रिय

ज्ञान का सागर प्रभु (विराजता है)। अन्तर अनन्त अतीन्द्रिय गुण का छलाछल भरा हुआ भगवान है। आहाहा! उसकी तो दृष्टि करता नहीं और बाहर की यह धूल मिली और पैसा मिला अथवा पैसा पाँच-दस लाख गजरथ में खर्च किया (तो मान लिया कि) धर्म हो गया। धूल में भी धर्म नहीं। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं।

आत्मा जब ज्ञानी होता है तब, स्वयं अपने समस्त बुद्धिपूर्वक राग को निरन्तर छोड़ता हुआ.. 'संन्यस्यन्' देखो! 'संन्यस्यन्' (कहा है), लो, यह त्याग! बाहर का त्याग तो अनन्त बार किया, वह कहीं आत्मा में है नहीं। बाहर का ग्रहण-त्याग तो आत्मा में है ही नहीं। आत्मा में एक शक्ति ऐसी है। समयसार में पीछे सैंतालीस शक्तियाँ (है उनमें) त्यागोपादानशक्ति है। परद्रव्य के ग्रहण और त्याग से तो प्रभु रहित है, पर का ग्रहण भी किया नहीं और पर का त्याग भी (किया नहीं)। त्याग है ही अनादि से। यह तो बाहर से थोड़ा त्याग करे वहाँ... ओहोहो! (हो जाता है)। यह (वास्तविक) त्याग है 'संन्यस्यन्' देखो! आहाहा!

अपने समस्त बुद्धिपूर्वक राग को निरन्तर.. 'संन्यस्यन्' अर्थात् संन्यास करता है। आहाहा! यह त्याग करता है। आहाहा! धर्मी तो रुचिपूर्वक राग का त्याग करता है। राग की रुचि नहीं। आहाहा! यह मिथ्यात्व का त्याग है, समकित का ग्रहण है। आहाहा! ऐसी बातें।

निरन्तर.. 'संन्यस्यन्' आहाहा! निरन्तर त्यागी। आहाहा! पर का त्यागी तो अज्ञानी भी निरन्तर है ही। आहाहा! परवस्तु शरीर, वाणी, मन, जड़कर्म पर, वह तो आत्मा में है ही नहीं तो पर का त्याग तो अनादि से है ही। आहाहा! परन्तु राग की रुचि (छोड़कर) और स्वभाव की रुचि करके राग की रुचि छोड़ना, त्याग करना, वह वास्तविक त्याग है। आहाहा! ऐसा किस प्रकार का उपदेश यह! यह सब व्रत पालो और प्रतिमा लो, एक लो और दो लो और तीन लो और ग्यारह लो... अरे! भाई! वस्तु की खबर बिना प्रतिमा कैसी? आहाहा! मिथ्यादृष्टि को प्रतिमा कहाँ से आयी? आहाहा! जिसे राग की पुण्य, दान, दान की रुचि है, वहाँ तो मिथ्यात्व है। आहाहा! मिथ्यात्व का त्याग नहीं, वहाँ राग का त्याग कहाँ से आवे? और पर का त्याग तो है ही नहीं। आत्मा तो (पर के) त्याग-ग्रहणरहित है। आहाहा!

समस्त बुद्धिपूर्वक.. बुद्धिपूर्वक, समझ में आया ? रुचिपूर्वक। यह राग करनेयोग्य है, राग लाभदायक है—ऐसी बुद्धिपूर्वक। (उसे) छोड़ देना। आहाहा! चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का राग हो, अरे! तीन लोक के नाथ का स्मरण हो, प्रभु का स्मरण हो, वह भी राग है। उस राग की रुचि छोड़ दे। आहाहा! आहाहा! भगवान वीतरागस्वरूप अन्दर है, उसकी रुचि कर। अरे.. अरे..! ऐसी बात है।

‘संन्यस्यन्’ है न पहला शब्द ? संस्कृत में पहला (शब्द) है। ‘संन्यस्यन्’ श्लोक में है। उसे त्याग कहते हैं। राग की रुचि बुद्धिपूर्वक छोड़ना, इसका नाम त्याग कहते हैं। आहाहा! पहला शब्द है न! श्लोक... श्लोक का पहला शब्द है। आहाहा! छोड़ता हुआ अर्थात्.. राग न करता हुआ,.. रुचिपूर्वक राग नहीं करता हुआ। राग का प्रेम छोड़ता हुआ और प्रेम से राग नहीं करता हुआ। आहाहा! अबुद्धिपूर्वक राग है। ज्ञानी को अभी अस्थिरता का (राग है)। रुचि नहीं है तो भी पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण अबुद्धिपूर्वक का राग है। उसे भी जीतने के लिए.. अस्थिरता, अबुद्धिपूर्वक का राग रहा, उसे भी जीतने के लिए बारम्बार.. आहाहा!

‘स्वशक्तिं स्पृशन्’ (ज्ञानानुभवनरूप) स्वशक्ति.. यह शक्ति, स्वशक्ति। भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु, उस स्वशक्ति का स्पर्शन करना... आहाहा! उसे अनुभव करना। आहाहा! ‘स्वशक्तिं स्पृशन्’ स्वगुण—स्वभाव आनन्द, उसका अनुभव। उस स्वशक्ति को स्पर्श करता हुआ.. क्या कहते हैं ? कि प्रथम सम्यग्दर्शन हुआ, शुद्ध चैतन्य की —स्वरूप के सन्मुख होकर (सम्यग्दर्शन हुआ), तत्पश्चात् उसे बुद्धिपूर्वक-रुचिपूर्वक राग का करना छूट गया, उसका संन्यास हो गया, परन्तु अभी अबुद्धिपूर्वक अस्थिरता का राग है, उसे भी छोड़ने के लिए आत्मा के अनुभव का स्पर्श कर। आहाहा! वीतरागी स्वरूप भगवान आत्मा को स्पर्श, उसे स्पर्श, उसे जगा, स्थिरता कर, यह स्पर्शन है। आहाहा! ऐसी सब बात। यह मानो निश्चय की बात, व्यवहार कहाँ गया ? व्यवहार गया व्यवहार में, राग में; आत्मा में है नहीं। आहाहा!

अबुद्धिपूर्वक राग है, उसे भी जीतने के लिए.. (अर्थात्) नाश करने के लिए बारम्बार.. स्वशक्ति अर्थात् आत्मा का अनुभव। स्व आत्मा की शक्ति अर्थात् आनन्द का

स्पर्शन। स्व अर्थात् ज्ञान, अपनी शक्ति ज्ञान, उसका स्पर्शन। स्व अर्थात् आत्मा, उसकी शक्ति अर्थात् वीतरागभाव, उसका स्पर्शन। आहाहा!

स्वशक्ति को स्पर्श करता हुआ और (इस प्रकार).. 'सकलां परवृत्तिम् एव उच्छिन्दन्' समस्त परवृत्ति को-परपरिणति को-उखाड़ता हुआ.. उपदेश तो ऐसा ही आवे न! अन्दर में जाता है तो राग उत्पन्न नहीं होता, उसे उखेड़ता हुआ, ऐसा कहने में आता है। भाषा तो (ऐसी ही होगी)। राग को उखेड़ता हुआ। राग, शुभविकल्प आता है, उसे भी नाश करता हुआ। स्वरूप की दृष्टि तो रागरहित हुई है, उसमें स्थिर होकर... आहाहा! आत्मा का स्पर्श करके, अनुभव करके राग को छोड़ता-उखेड़ता हुआ।

'ज्ञानस्य पूर्णः भवन्' आत्मा के पूर्णभावरूप होता हुआ,.. आत्मा के पूर्ण भाव अर्थात् केवलज्ञान। यथाख्यातचारित्र और केवलज्ञान और अनन्त आनन्द तथा अनन्त वीर्य, ऐसा पूर्णभवन। पूर्णभावरूप होता हुआ। आहाहा! द्रव्यस्वभाव में-गुणस्वभाव में तो पूर्णता है ही, परन्तु उसे स्पर्श करते-करते, अनुभव करते (करते), पर्याय में पूर्ण हो जाए। आहाहा! केवलज्ञान, केवलदर्शन, पूर्ण अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्यादि। ज्ञान के.. अर्थात् आत्मा के। पूर्णभावरूप होता हुआ, वास्तव में.. 'नित्यनिरास्रवः भवति' वास्तव में 'हि' है न 'हि' अर्थात् निश्चय, वास्तव में। वहाँ उसमें भी 'हि' शब्द था। परन्तु यह 'हि' अलग प्रकार का। आहाहा!

वास्तव में सदा निरास्रव है। फिर सदा निरास्रव है। पहले निरास्रव कहा था, तब तो सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से, अनन्तानुबन्धी, मिथ्यात्व की अपेक्षा से कहा था। विवक्षा की विचित्रता की कथन की अपेक्षा से (कहा था)। यहाँ कहा कि जब पूर्ण वीतरागता अन्दर होती है; सम्यग्दर्शन होने के बाद भी स्वरूप का अनुभव करते-करते राग छूट जाता है और वीतराग पूर्ण हो जाता है, तब निरास्रव होता है, तब उसे बिल्कुल आस्रव नहीं होता। है?

भावार्थ : ज्ञानी ने समस्त राग को हेय जाना है। देखो! धर्मी तो कोई भी राग हो, उसे हेय मानता है। भगवान की भक्ति का भाव आता है, परन्तु मानता है हेय। आहाहा! ज्ञानी ने समस्त राग को हेय जाना है। वह राग को मिटाने के लिए उद्यम किया

करता है; उसके आस्रवभाव की भावना का अभिप्राय नहीं है;.. आस्रवभाव के अभिप्राय की भावना नहीं है। यह ठीक है और करनेयोग्य है, ऐसा नहीं है। इसलिए वह सदा निरास्रव ही कहलाता है। लो! विशेष कहेंगे.....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)